पुष्पदीप

केदारनाथ अग्रवाल

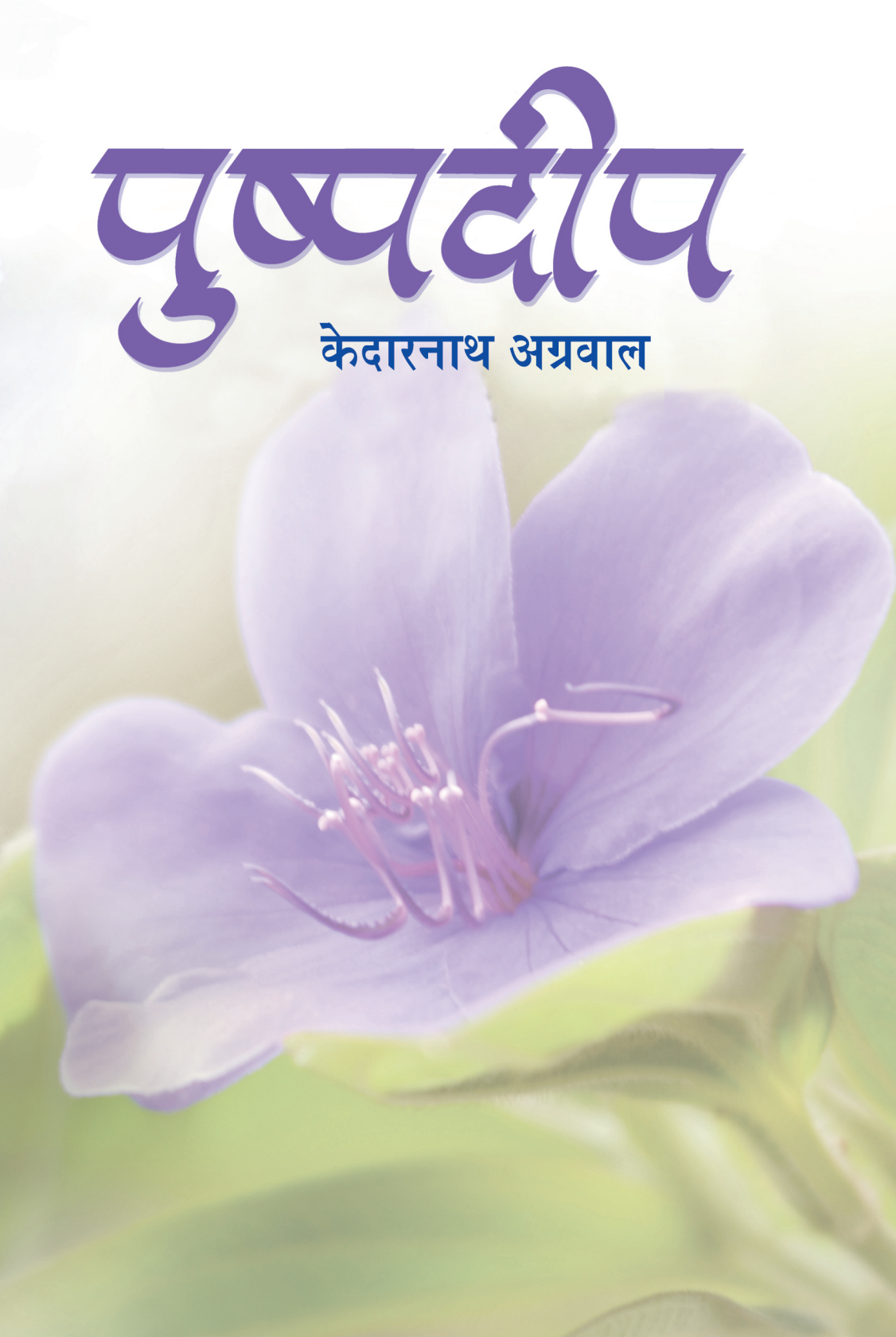

पुष्प-दीप

केदारनाथ अग्रवाल

साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

I S B N : 978-81-7779-184-2

❁

प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद-3

दूरभाष : 2400787, 2402072

❁

लेखक

केदारनाथ अग्रवाल

❁

स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल

❁

संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2009

❁

आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल

❁

अक्षर-संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद-2

❁

मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद-3

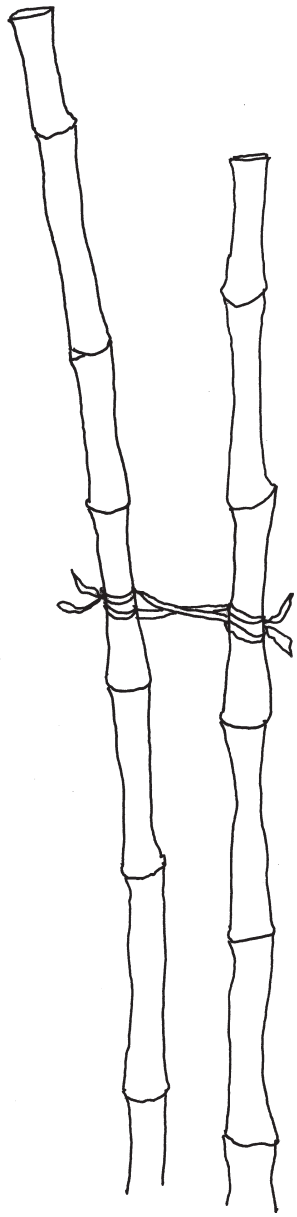

मूल्य : 125.00 रुपये मात्र

पुष्प-दीप

प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल
विभोर अग्रवाल
2009

भूमिका

पुष्प सुंदर और सजीव होते हैं। अपन रंग-रूप से, सुगंध से आदमी का मन मोह लेते है। उन्हें गूँथकर आदमी गलहार बनाता है, जयमाल बनाता है। भक्त उन्हें अपने भगवान की मूर्ति पर चढ़ाता है। वर-वधू के लिए पुष्प-शय्या तैयार की जाती है। देश के महान सपूतों को पुष्पों की माला पहनाई जाती है। दिवंगत महापुरुषों की समाधियों पर और उनके जन्म दिन पर पुष्प चढ़ाये जाते है। सामान्य जन भी अपने मृत परिवार जनों के शव पर पुष्प चढ़ाते है। मंदिरों में देव-मूर्तियों पर पुष्प चढ़ाने की प्रथा प्रचलित है।

मैं कविता को चेतना की सृष्टि मानता हूँ। कविता की सृष्टि भी रंग-रूपमयी होती है। कविता मानवीय बोध के सौन्दर्य को व्यक्त करती है। पुष्प भी, तभी तो कविता में आकर उसी मानवीय बोध को व्यक्त करने लगता है। प्रकृति का अशब्द पुष्प शब्दार्थ पाकर मानवीय चेतना का हृदयहारी पुष्प बन जाता है और सांस्कृतिक सौन्दर्य और सुगंध की व्यजना करने लग जाता है। चेतना प्रकाश देती है-मानवीय जीवंतता की ओर ले जाती है, तभी तो आदमी, कविता से विचार और चिंतन की दिशा और दृष्टि पाकर नवोल्लास से कर्म करने लगता है—भ्रम-भ्रांतियों का परित्याग कर, मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। इतिहास मात्र घटनाओं का विवरण नहीं रह जाता वरन् मानव के विकास का दिग्दर्शन कराता है—श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बनते रहने की प्रेरणा देता है।

इसीलिए मैंने अपने इस काव्य-संकलन को 'पुष्प-दीप' नाम दिया है। इसकी कविताएँ मेरी सौन्दर्य-प्रियता तथा सत्य-प्रियता से दूसरों को भी सौन्दर्य-प्रिय और सत्य-प्रिय बनाने में सक्षम हों, ऐसी मेरी मनोकामना है।

न सौन्दर्य-प्रियता सहज ही प्राप्त होती है—न सत्य-प्रियता। इस संघर्ष और द्वन्द्व के संसार में दोनों को पाने के लिए आजीवन संघर्ष करते

रहना पड़ता है। जो कवि तात्कालिक उन्मेष के वशीभूत होकर रचना रचते हैं वह क्षणिक बोध की क्षणजीवी अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसी अभिव्यक्ति पाठक की मानसिकता को प्रभावित कर सकने में असमर्थ है। इसीलिए खूब सोच-समझकर वर विवेक से सौन्दर्य-प्रियता और सत्य-प्रियता का वरण करना पड़ता है।

सौन्दर्य भी कई तरह का होता है। सब तरह का सौन्दर्य काव्य-सौन्दर्य नहीं होता । सौन्दर्य को स्थापत्य देना पड़ता है। स्थापत्य देने में कुशल कौशल से काम लेना पड़ता है। इसी तरह की पकड़ के लिए उसे शब्दायित-अर्थायित करने के लिए अपनी चेतना को मथना पड़ता है और सारवान बनाकर सम्प्रेषणीय बनाना पड़ता है। तब छोटी-से छोटी कविता भी महत्व-पूर्ण प्रभाव डाल सकने में समर्थ होती है। मैं, कहाँ तक, छोटी कविताओं के लिखने में सफल हुआ हूँ, यह तो विचारवान पाठक ही बता सकेंगे। मैं तो बस इतना ही कहूँगा कि अपने पाये हुए सौन्दर्य और सत्य की अभिव्यक्ति मैं कर सका हूँ। मैंने असाध्य को नहीं-वरन् साध्य को उसके अनुरूप व्यक्त किया है। मैं इतने से ही संतुष्ट हूँ।

मेरी सौन्दर्य-प्रियता, शाब्दिक-अलंकारिक क्रीड़ा-कौतुकी स्वभाव की नहीं होती, मानवीय स्वभाव की अभिव्यक्ति की होती हैं। मैं शब्दों के झुनझुने नहीं बजाता- मैं शब्दों के स्वरों से मानसिक दोलन-उत्तोलन उत्पन्न करने को कवि-कर्म नहीं समझता, मैं शब्दों के मंत्र नहीं मारता-न मंत्र मारने में—मंत्र मारकर वशीभूत करने में विश्वास करता हूँ। मेरे प्रयुक्त शब्द मेरी चेतना का प्रतिबिम्बन करते हैं, यह प्रतिबिम्बन पूर्णतया लौकिक जीवन से सम्बद्ध होा है। इसलिए इस प्रतिबिम्बन में मेरे जीवन-दर्शन के विचार-बोध की अभिव्यक्ति मिलती है।

प्रत्येक आदमी, जो पढ़ा-लिखा है, वह कविता लिखने का प्रयास कर सकता है। आजकल अधिकांश पढ़े—लिखे लोग कविताएँ लिखते हैं- काव्य-गोष्ठियाँ आयेाजित करते-कराते हैं—खूब रूचि से काव्य-पाठ करते हैं और अपने सहधर्मियों और सहकर्मियों से वाहवाही लूटते हैं। परन्तु वे जो रचनाएँ रचते और प्रस्तुत करते हैं वे मात्र इंद्रियबोध को व्यक्त करती है- बाहर से आकृष्ट करती हैं परन्तु भीतर से खोखली जीवन—दर्शन से शून्य—स्थापत्य से रहित—पथ-प्रदर्शित करने में असमर्थ होती हैं, रचनाकार को पूरी तरह से अपनी शाब्दिक शक्ति को

इस हद तक उर्वरा बनाना चाहिए कि वह मानवीय बोध की सत्यापित कृति दे। ऐसा करने के लिए, गहन अध्ययन की पृष्ठ-भूमि की आवश्यकता होती है और यथार्थ के प्रसार की विसंगतियों को विनष्ट करने का लक्ष्य होता है—इसीलिए आज की बहुसंख्यक रचनाएँ निरर्थक होकर लुप्त हो जाती है। कवि बाजीगरी नहीं करता। वह जीवन के मर्म को, विद्या-बुद्धि-विवेक से, उजागर और प्रतिष्ठित करता है। मानवीय बोध का बिम्बन तभी सार्थक और सप्राण होता है जब वह आदमी की चेतना को बलिष्ठ बनाकर द्वन्द्व और संघर्ष के लिए सक्षम बनाता है। मैं जानता हूँ कि ऐसा करने में भी असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं और लगता है कि जैसे ऐसी रचना न करना पड़े तो अच्छा हो, परन्तु जो व्यक्ति जीवन को हर प्रकार से श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बनाने को ही मानव-धर्म समझते और मानते हैं वह अडिग आस्था से दिन-प्रति-दिन अपने लक्ष्य की प्राप्ति में लगे रहते हैं, न आधुनिक बनते हैं, न उत्तर-आधुनिक, न अपने अहं में खोये-सोये रहते हैं। कविता केवल कला नहीं होती। कविता कर्म का विधान-मंडल तैयार करती है। कर्म आदमी के हाथ करते हैं। मैने यही सोचा, समझा और जाना है। मैं तभी तो सत्यदर्शी कविता को श्रेष्ठ कविता मानता हूँ।

जो आदमी पढ़-लिखकर विशिष्ट व्यक्ति बन जाते हैं किन्तु गहराई से चिन्तन-मनन नहीं करते, केवल अपनी निजी तर्क-बुद्धि के बल पर ही ऐतिहासिक घटनाचक्र का विश्लेषण करते हैं और आम आदमियों के जीवन को सत्य और संज्ञान से नहीं जानते-परखते, वह भ्रम और भ्रांतियों को अपनाये हुए जीने लगते हैं तो मात्र निजता की अभिव्यक्ति ही करते रहते हैं। ऐसी अभिव्यक्तियाँ मूल्यवान मानवीय जिजीविषा से वंचित होती हैं। इनस कल्याण की कोई सम्भावना नहीं होती। मैं, इसीलिए बौद्धिक होने से सदैव बचता रहा और अपना विकास मार्क्सवादी दृष्टिकोण से करता रहा। जीवन के सत्य को ही मैंने कविता का सत्य बनाया और बिम्बित किया—ऐसा करना आरोपण नहीं कहा जा सकता। ऐसा करना तो मानवीय गुण-गौरव और गरिमा को व्यंजित करना है। यही है कविता की सृष्टि का लक्ष्य।

इस संकलन में एक कविता है ''अक्ल की लालटेन''। पूरी कविता बौद्धिकता के खिलाफ है। वह लालटेन बनकर जनता के बीच जीने

की हिम्मत तो करती है पर प्रकाश नहीं दे पाती—घबड़ाकर—वापस लौट आती है और फिर दीवार की खूँटी पर लटक जाती और बुझ जाती है। कोरी बौद्धिकता कुछ नहीं कर सकती। यह सत्य है- सर्वमान्य है, स्वीकृत है। मैंने इसे इसी लिए लिखा है कि दूसरे लोग ऐसी आधुनिकता और बौद्धिकता के चक्कर में न पड़ें। वह अपने आपको ऐसी कविता के प्रति समर्पित करें जो उनकी श्रेष्ठ मानवीय गुणों से सम्पृक्त करें।

'उत्तर-आधुनिकता' का प्रचलन भी हो रहा है। यह आदमी की आदमी नहीं रहने देती। यह आदमी की सभी संज्ञानी प्रवृत्तियों को नकार कर उस सामाजिक प्राणी को अपने समाज और समय से एकदम अलग कर देती है। वह अलगाव की अपनी तरह की रचना करने लगता है जो किसी दूसरे व्यक्ति के विकास में कतई सहायक नहीं होती। यह अजीवन होकर सब प्रकार से मानवीयता से शून्य कर देती है।

इस संकलन की कुछ कविताओं की ओर मैं, विचारवान पाठकों का, ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

वे हैं : भोगिला : भरोसा:भगौता: अयोध्या की जलाई लालटेन: कलमदान: बागी घोड़ा और लगड़ा कुत्ता।

भोगिला एक बैल था। वह मुझे बहुत अच्छा लगता था। मैंने उसे उसी रूप में व्यक्त किया है जिस रूप में उसने मुझे आकृष्ट किया था। अकाट्य तर्क की तरह चलता था। ज्ञान की तरह गन्तव्य पर समय से पहुँचता था। वह कब का मर चुका है। परन्तु आज तक वह मुझे प्रेरणा देता है और कर्मठ बनाये हैं।

भरोसा मेरे घर का नौकर था। सन् 1921 में उसने जिस जिन्दादिली का परिचय दिया था उसी को मैंने अपनी कविता का विषय बनाया है। मैंने उसे तब धन्यवाद न दिया था क्योंकि तब धन्यवाद देना न जानता था। नादान बच्चा था। पर तब का हमारे घर का नौकर आज तक मेरे भीतर बसा है। एक बार वह सपने में आया तो मैंने उसे धन्यवाद दिया। उसने बहुत बड़ा काम किया था।

भगौता बढ़ई का बेटा भागवत नायका था। गाँव में भागवत सुनाई जाती। तभी वह पैदा हुआ था। बाप ने उसका नाम भागवत रख दिया।

पर यह नाम चालू न रह सका। तब का धार्मिक पारम्परिक माहौल गायब हो गया और बढ़ई का बेटा—मेरा दोस्त—भगौता बन गया। गाँव का सामाजिक परिवेश भी बदला और धर्म का स्थान कर्म ने ले लिया।

अयोध्या की जलाई लालटेन मैं रायबरेली से, अपने दिमाग में, ले आया था। वह भी एक नौकर था, साफ-सुथरा रहता था। मुझे बहुत अच्छा लगता था। लालटेन को ऐसे जलाता कि परी लगने लगती। उसी की जलाई वह लालटेन आज तक मुझे प्रेरणा देती है और मैं चेतना की सृष्टि करने में लगा रहता हूँ। कविताएँ वही लिखता हूँ जो सत्यदर्शी होती हैं।

'कलमदान' कविता भी गाँव के उस माहौल को व्यक्त करती है, जब वहाँ का कोई व्यक्ति, कम-से-कम पढ़े होने पर भी, अपने को कई भाषाओं के ज्ञाता के रूप में, व्यक्त करते रहने का नाटक किया करता है: वह व्यक्ति ही है मेरी कविता का कलमदान।

अब आदमी इतना अमानवीय स्वभाव का हो गया है कि अपने पालतू पशुओं को भी त्रस्त करता रहता है और इस हद तक उन्हें सताता है कि वह पशु भी अपने मालिकों के खिलाफ विद्रोह करने लगता है। बागी घोड़ा ऐसा ही पशु है। लँगड़ा कुत्ता भी ऐसी ही अमानवीयता को भोगता रहता है—इसीलिए मैने उसे, आदमी की कुचाल से चलते देखा है न कि अपनी चाल से। चोट मार्मिक है। पता नहीं पाठकों को इस चोट का एहसास होगा या नहीं।

आदमी का जन्म पाकर, आदमी की तरह जीने के लिए, अपने घर-परिवार को अच्छे सदस्यों का घर-परिवार बनाने के लिए, अपने समाज और राष्ट्र को सत्यदर्शी समुन्नत बनाने के लिए और महान मानवीय मूल्यों और आदर्शे से निरंतर चरित्र को परिचालित करते रहने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि आदमी प्यार करे और प्यार पाये। यदि आदमी इस महत्व-पूर्ण पद्धति को न माने और अपने को इस पद्धति से अलग कर ले तो उसका जीना असंभव हो जायगा। वह आदमीयता से वंचित हो जायगा। वह पशुवत हो जायेगा, उसका जीवन-दर्शन, प्रेम के अभाव में, बेकार और निरर्थक हो जायेगा। प्यार ही तो आदमी को कर्मशील बनाता है। इसी बात को मैंने अपनी कविता में व्यक्त किया है। वह कविता है—प्यार न पता तो क्या होता। इसे पढ़

कर पाठक को महसूस होगा कि—बिना प्यार का जीवन हरगिज मानवीय जीवन नहीं हो सकता। वह तो सब तरह से अमानवीय होकर निरर्थक हो जायेगा। इसी निरर्थकता को व्यंजित करने के लिए मैंने इस कविता में झाड़ी वगैरह का प्रयोग किया है। यह सचेत दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

इस संकलन की अन्य कविताओं के बारे में कोई ऐसी बात नहीं है जो मैं पाठकों को बताऊँ।

अन्त में अपने परम स्नेही श्री रामप्यारे राय, कश्यप चन्द्रपाल, श्री रामविशाल, श्री नरेन्द्र पुंडरीक, श्री केशव तिवारी, श्री शिवशरण गुप्ता, श्रीमती मनोरमा अग्रवाल, डॉ० प्रेमलता मिश्र, श्री रामसजीवन पांडे, श्री एहसान आवारा, श्री कौशल किशोर गुप्ता 'लल्ला' एवं श्री जगदीश-राजन के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ कि इन्होंने कविताओं को समय-समय पर सुना और मुझे प्रेरणा दी। श्री शिव कुमार सहाय मेरे प्रकाशक हैं। वह संकलन छाप-छाप कर मुझे पाठकों तक पहुँचाते हैं और सदैव मेरे मन में बने रहते हैं, उनके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ। डॉ० अशोक त्रिपाठी दिल्ली से ही मुझे कविता लिखते रहने की प्रेरणा देते रहते हैं- कभी नहीं चूक हो- उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

अपनी कविताओं का यह संकलन मैं अपनी जन्मभूमि कमासिन के ग्रामवासियों को सस्नेह समर्पित करता हूँ। उन्होंने मुझे वहाँ ले जाकर दिनांक 27-2-93 को मेरा सम्मान किया और अपनी मंगल कामनाएँ दीं।

बाँदा (उ० प्र०)
4-3-94

—केदारनाथ अग्रवाल

अनुक्रम

कविता का शीर्षक या पहली पंक्ति	रचना-तिथि	पृष्ठांक
जन्म-दिन का यह कमल	12-3-92	17
देह-गेह के	22-4-92	18
वाद्ययंत्र के	26-4-92	19
होने लगा	21-6-92	20
मौन होकर भी	26-7-92	21
महाकाव्य	4-9-92	22
हम रहते हैं	5-9-92	23
आदिकाल से	10-9-92	24
तट पर आकर	6-9-92	25
पवन प्रकम्पित	8-10-92	26
न जा सका भोपाल	11-10-92	27
छोटे-छोटे	11-10-92	29
जल्दी आये	12-10-92	30
मौन यौवन	12-10-92	31
दिन है	18-10-92	32
पकड़ ले गई चेतना	21-10-92	33
ये माटी के दिये	25-10-92	36
ये बारूद बहादुर	25-10-92	37
सब अँधेरी रात में है	20-12-92	38
आदमी	26-1-93	39
बिना बोले बोलती हैं	29-1-93	40
चेतना का	18-1-93	41

क़ैद होकर भी	8-2-93	42
बहुत तो किया		43
बोलो	19-2-93	44
प्यार न पाता	16-3-93	45
मरे का मातम	11-6-93	46
जब	11-6-93	47
आदिकाल से पल्थी मारे	12-6-93	48
शपथ लेकर भी	12-6-93	49
अक्ल की लालटेन	15-6-93	50
दीवार के सहारे	15-6-93	51
आदमी	27-7-93	52
जहाँ भी	30-9-93	54
मैंने बागी घोड़ा देखा	3-4-93	55
लँगड़ा कुत्ता	4-4-93	56
सब जो है	अनुपलब्ध	57
विचार का	''	58
बरक़रार हैं	''	59
मैं बहुत खामोश हूँ	''	60
जब आग और पानी मिले	''	61
लिफाफे में	''	62
घड़ी में चलता समय	''	63
न उबाल	''	64
आते-जाते रहे गगन में	2-9-93	65
अगम	5-9-93	66
भोगिला	6-9-93	67
चीन और हिन्दुस्तान	6-9-93	68
भरोसा	7-9-93	69
कलमदान	9-9-93	72
हिन्दी दिवस है आज	14-9-93	74

न बौद्धिक हुआ	15-9-93	75
मर कर भी	17-9-93	76
सोये आदमी	19-9-93	77
नहीं काटे कटता समय	24-9-93	78
आज सबेरे	24-9-93	79
कवि नहीं होता, नहीं होता बूढ़ा	25-9-93	80
चीखती-चिचियाती	25-9-93	81
भगौता	26-9-93	82
अपने लिए सब कुछ	4-10-93	86
दौआ बेहना रुई धुनकता	7-10-93	87
दस ग्यारह साल का हुआ	10-10-93	90
देर तो हुई है	12-10-93	92
वह रहा-रह कर गया	12-10-93	93
कविता तो है	17-10-93	94
अनायास आये भूकम्प से	1/21-10-93	95
समय का सूरज हँस रहा है	23-10-93	96
दिन हो या हो रात	30-10-93	97
गये की बात	1-11-93	98
सही को गलत	4-11-93	99
न मारो उसे और न मारो	8-11-93	99
बादल तो आये	9-11-93	101
विद्यालय को	12-2-94	102

●●

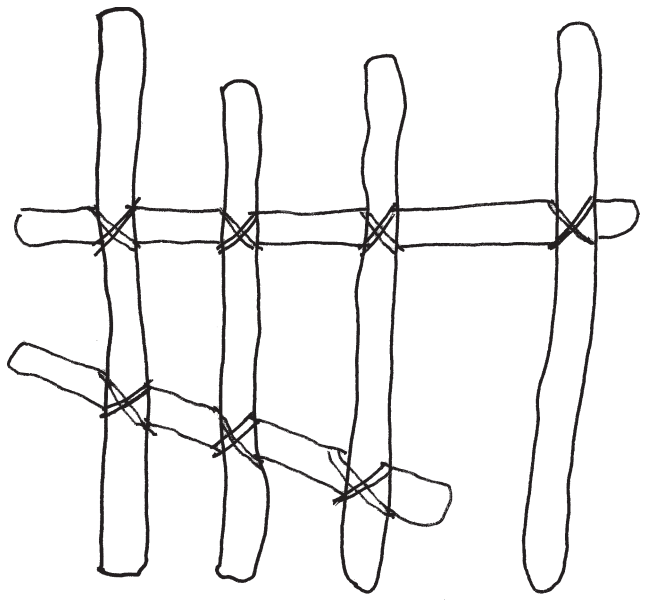

केदारनाथ अग्रवाल
की कविताओं
का संकलन

पुष्प दीप

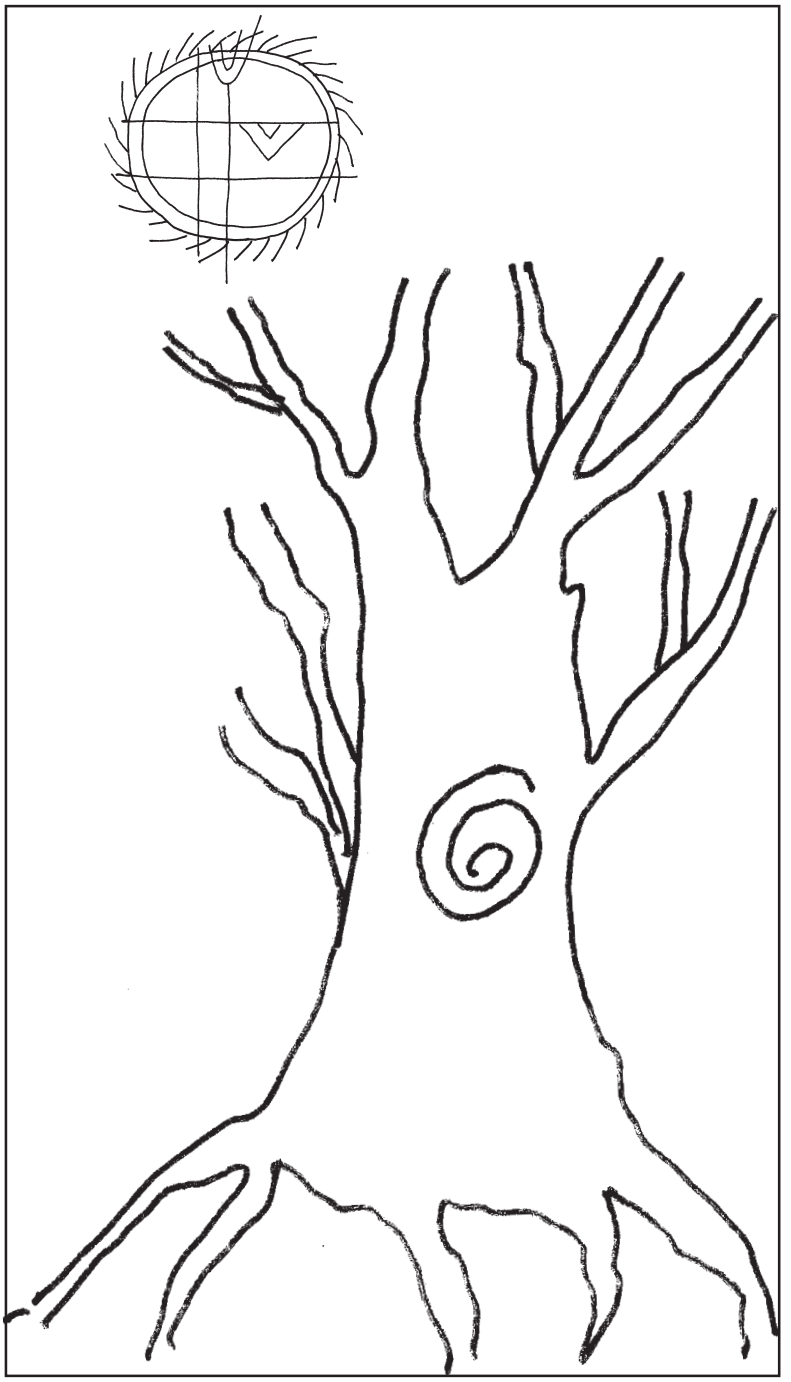

जन्म-दिन का यह कमल

जन्म-दिन का यह कमल
-फूला-खिला-
अंक में तुमको लिये है,
राग से रंजित किये है,
प्राण-प्रिय है!

हम
तुम्हें
आशीष देते।
जिओ जीवन,
करो चिंतन,
चेतना से जीत लो जग,
हर्ष तुमको
मिले पग-पग![1]

12-3-1992

---

1. प्रिय प्रशांत के जन्म-दिन पर
मद्रास 12-3-'92

देह-गेह के

देह-गेह के
नयन नेह के
बंद कमल हैं,
नहीं हुआ है अभी सबेरा
सोये हुए घरों में

नींद छोड़कर
लोग न आये
खुली हवा में

बिस्तर उन्हें सुलाये हैं-
पूरी तरह
छिपाये हैं।

22-4-1992 (मद्रास)

वाद्ययंत्र के

वाद्ययंत्र के
'कैसेट' बजते,
जोर-शोर का
स्वर-संग्राम छिड़ा है

आपाधापी-
कोल-किराती-
धमाचौकड़ी-
कमर काल की तोड़ रही है,
जीवन की जड़ खोद रही है!

26-4-1992 (मद्रास)

होने लगा

होने लगा
कमरे में
गला-फाड़ संगीत का
सुरासुर संग्राम-
धुनाधुन-
धुनाधुन
धुनकी जाने लगीं ध्वनियाँ

चलता रहा
चलता रहा
लगातार
धोबिया-पछाड़
स्वरों का संहार

बाद को
उतर आया
कमरे में
संग्राम के
समाप्ति का
सन्नाटा।

21-6-1992 (मद्रास)

मौन होकर भी

मौन होकर भी
नहीं तुम मौन हो!

बोलते सौन्दर्य की तुम
काम-कुसुमित
व्यंजना हो।

काव्य-काया की समर्पित
चेतना की
सर्जना हो।

26-7-1992 (मद्रास)

महाकाव्य

महाकाव्य
लिख दिया गगन में
ताराओं ने, उज्ज्वल

मैंने
शाश्वत काव्य पढ़ा–
रीझा,
मुसकाया–

जीवन
सार्थक किया,
सत्य से जिया,

मोद को
मैंने जीत लिया।

9-4-1992 (मद्रास)

हम रहते हैं

हम रहते हैं
सब के घर में
एक रंग के तेरह-तेरह,
चार
रंग के
बावन पत्ते
ताश के।

एक्का से लेकर दहले तक,
चार बेगमें,
चार गुलाम
बादशाह भी चार।

दाँव-पेंच
हम करते रहते
हार-जीत की बाजी में
पर धन के हथियाने में-
मस्ती-मौज
मनाने में,

5-9-1992 (मद्रास)

आदिकाल से

आदिकाल से
अब तक–
अब तक
वही वही है–उसी तरह है

इसने बचपन कभी न जाना
चढ़ी जवानी कभी न जानी,
इसने दाँत न पाये,
हाथ–पाँव मुँह–नाक–कान भी
मिले न इसको,
बानी–बोली शब्द
न इसने पाये!

पानी रहा हमेशा पानी–
केवल, छल–छल छलका पानी,
लहरें लेता, लहराता है
ज्यों–का–त्यों फिर हो जाता है।
गुमसुम रहकर–
तट पर आकर
सो जाता है
खो जाता है!

10–9–1992 (मद्रास)

तट पर आकर

तट पर आकर,
तुम्हें देखकर,
सुख की सीमा पार कर गया।

ऊर्जा की लहरों ने मुझको
आत्म-विभोर किया,
धन्य हुआ मैं,
मैंने ऊर्जा पायी-
मैं लहराया,
काव्य-चेतना
प्रबल हुई,
सिद्धि-साधना सफल हुई,
रचना रचने की
अभिलाषा
पूर्ण हुई,

चित् की चिन्ता
दूर हुई।

6-9-1992 (मद्रास)

पवन प्रकम्पित

पवन प्रकम्पित
पीपल के
ये छोटे पत्ते
महावृक्ष की
छोटी-छोटी
कविताएँ हैं;
व्यंजित करलें
आत्म-विकास
प्राकृत छवि उल्लास।

8-10-1992 (मद्रास)

न जा सका भोपाल

न जा सका भोपाल
लोकार्पित
जहाँ
कल हुआ होगा
मेरा नया
काव्य-संकलन-
'खुली आँखें : खुले डैने'।

वंचित रह गया मैं
कार्यक्रम से
आपसी मेल-मिलाप से
आपसी वार्तालाप से।

अवश्य ही
क्षुब्ध हुए होंगे मित्र
मेरी गैर हाजिरी से।
अशक्त था मैं
विवश था मैं

कि करता यात्रा
और पहुँचता।

खेद है मुझे न पहुँचने का,
मद्रास में
अकेले, चुपचाप
घर में पड़े रहने का।

11-10-1992 (मद्रास)

छोटे-छोटे

छोटे-छोटे
क्षणिक सुखों को
चूम-चाटकर,

बड़े-बड़े
कड़ियल कष्टों को
सहते-सहते,
अन्त समय तक
जो जीते हैं

यही लोग तो
सच्चे अर्थों में
मानव हैं–
मानवता के संरक्षक हैं

इन लोगों को
मेरा हार्दिक धन्यवाद है,
शत-शत मेरा
मानव प्रेमी
साधुवाद है!

11-10-1992 (मद्रास)

जल्दी आये

जल्दी आये
मेरी नयी किताब–
काव्य-संकलन मेरा।

पढ़ लूँ उसको पूरा-पूरा
रचनाओं से
रच लूँ
फिर से अपने मन को,
पुष्ट बना लूँ
अपने तन को।

जीवन मगन जिऊँ
क्षण क्षण
सुधा पिऊँ।

12-10-1992 (मद्रास)

मौन यौवन

मौन यौवन
नहीं चुप है!

बिना बोले बोलता है,
अन्तरात्मा
खोलता है!

12-10-1992 (मद्रास)

दिन है

दिन है–
कि इतवार की देह
पातहीन पेड़ हुई है!

लगता है कि
सामने खड़ा है कोई एक
भूखा-बेहाल कंगाल!

18-10-1992 (मद्रास)

पकड़ ले गई चेतना

पकड़ ले गई चेतना,
मुझे मेघ-लोक में।

पहुँचकर वहाँ
मैंने देखे
तरह-तरह के रंग-रूप के-
भेष बदलते
देह बदलते
बैठे-ठाले
पौढ़े-लेटे
चलते-फिरते
क्षण में ओझल
क्षण में प्रकटित
भीड़ बनाते
आगे बढ़ते
तत्क्षण एकाकी हो जाते
तत्क्षण मरुथल
तत्क्षण पर्वत
तत्क्षण तरुवर
तत्क्षण पक्षी
तत्क्षण भारी भरकम हाथी

कभी पादरी
कभी मौलवी
कभी पुजारी
बिना बोल-बानी के गूँगे-
विचरण करते-
जीते रहते-मिटते रहते।

मुझको
चकित-अचम्भित करते
ये हैं बादल!
ये
जड़जीवी
ये क्षणजीवी
इसी प्रकृति की सन्तानें हैं
जिसने सृष्टि रची है सारी,
जो होने का
और न होने का कारण है।

ये
स्वयं को नहीं जानते,
नहीं किसी को जान सके हैं,

इस पर भी तो
कालिदास ने
इनको ही उपयुक्त समझकर दूत बनाया
एक मेघ को कुशल समझकर
व्यथित यक्ष की पीर सुनाई,

विकल यक्षिणी तक पहुँचायी।
उसके द्वारा मर्म हृदय का चूरा भेजा।

कार्य किया सम्पन्न मेघ ने
कुशल कला के बल पर
'मेघदूत' के छंद
यही संदेश सुनाते,
काव्य-कला को अमर बनाते,
दुनिया उनको कंठ लगाती,
'मेघदूत' को भूल न पाती!

अब
जमीन पर फिर ले आईं
मुझे चेतना,
मानव-बोधी
लोकतंत्र में जीने को,
नूतन रचना रच पाने को,
महाकाल से लड़ जाने को।

21-10-1992 (मद्रास)

ये माटी के दिये

ये
माटी के दिये–
मौन
जलते,
मुसकाते,
अंधकार को मार भगाते,
पावन पर्व प्रकाश मनाते!

25–10–1992 (मद्रास)

ये बारूद बहादुर

ये
बारूद बहादुर
छोटे-बड़े पटाखे,
आग पकड़ते ही फट जाते।

धुआँ छोड़ते,
धरती को
धुँधलाते।

शान्ति भंग कर
झट मर जाते!

25-10-1992, दिवाली (मद्रास)

सब अँधेरी रात में है

सब अँधेरी रात में है!

सिर्फ
जुगनू और तारे
ज्योति के अनुबंध में हैं–
जो
टिमकते।

चेतना से
मुसकुराते!

20–12–1992 (मद्रास)

आदमी काटता है

आदमी
काटता है
आदमी की नाक

आदमी को काटता है
आदमी का जूता।

26-1-1993 (मद्रास)

बिना बोले बोलती हैं

बिना बोले
बोलती हैं,
चक्र में
चल रहीं
घड़ी की सुइयाँ।

सुनी
मैंने
अनसुनी भाषा!

पढ़ी
मैंने
अनपढ़ी भाषा!!

29-1-1993 (मद्रास)

चेतना का

चेतना का,
जागरण का
जी रहा मैं
सिद्ध जीवन।

कर रहा
उपलब्धियाँ
काव्यार्थ की!

18-1-1993 (मद्रास)

कैद होकर भी

कैद होकर भी
नहीं मैं कैद हूँ!

मुक्त हूँ मैं
चेतना की
पारदर्शी
सत्यदर्शी
चाँदनी में!

जी रहा हूँ
बज रहा हूँ
काव्य-कंठी
रागिनी में
प्राणपन से!

मर्त्य होकर भी
नहीं मैं मर्त्य हूँ!

8-2-1993 (मद्रास)

बहुत तो किया

बहुत तो किया
कौओं ने प्रयास
शताब्दियों से
लगाये-लगाये आस
करते रहे सूर्य का दर्शन
सुनते रहे मंदिरों में
हो रहे कीर्तन
कि
न रहें काले-कलूटे
काँव-काँव किकियाते कौए
हो जायँ श्वेत बदन हंस
दूध और पानी में करें भेद
बुद्धि और विवेक का सार्थक करें प्रयोग।

न हुए सफल
न हुए अब तक
आज तक कौए सफल।

कौए
बने रहे कौए
न हुए
न हुए अब तक,
आज तक हंस![1]

---

1. अयोध्या की 6/12 की घटना से प्रेरित।

बोलो

बोलो,
अथवा
बिना बोले ही
मुख-मुद्रा से
मुग्ध दृष्टि से
आँखें खोलो!

मैं,
सुन लूँगा,
और प्राप्त कर लूँगा
तुमको!

वैसे
जैसे
पा लेता सब
स्वप्न देखकर
जीवन के संदर्भ में!

19-2-1993 (मद्रास)

प्यार न पाता

प्यार न पाता
तो क्या होता?

घास-फूस की झाड़ी होता
बेपेंदे की हाँड़ी होता
बिना सूत की आँड़ी होता
मूसर होता
काँड़ी होता
बेपहिये की गाड़ी होता
सबसे बड़ा अनाड़ी होता
गूँगी खड़ी पहाड़ी होता
बंगाले की खाड़ी होता!

16-3-1993 (मद्रास)

मरे का मातम

मरे का मातम
शैतान भी मनाता है,
श्मशान तक जाता
और आँसू बहाता है;
किन्तु,
दूसरों को
मारने से
बाज नहीं आता है।

11-6-1993 (बाँदा)

जब कहीं

जब
कहीं
कोई बलीन
अबलीन को
दिन दहाड़े
पौलता है–

कद्दू की तरह
स्वार्थ की तराजू पर
तौलता है

तब
बलीन को
तत्काल मार डालने को
खून खौलता है!

11-6-1993 (बाँदा)

आदिकाल से पल्थी मारे

आदि काल से पल्थी मारे,
अब तक,
बैठी हुई पहाड़ी
तप करती है

आत्म-ज्ञान मिल जाये उसको,
जड़ता टूटे उसकी
भव का बंधन छूटे जल्दी!

12-6-1993 (बाँदा)

शपथ लेकर भी

शपथ लेकर भी
शपथ की अवमानना
करते लोग
सत्य के अलमबरदार बने,
असत्य का
प्रवचन करते हैं,
शान और शौकत से
पापिष्ठ
जीवन
व्यतीत करते हैं।

12-6-1993 (बाँदा)

अक्ल की लालटेन

अक्ल की लालटेन
मुग़ालते की रोशनी करती है।

अँधेरे में पड़ी दुनिया
अँधेरे में
गड़ी रहती है।

बदलाव के लिए
तड़पती है।

15-6-1993 (बाँदा)

दीवार के सहारे

दीवार के सहारे
खूँटी से टँगी लालटेन
उतर कर,
जमीन पर
पाँव-पाँव चली

कि अक्लमंद
उजाला बाँटे
अंधकार काटे!

पर
भीड़ देखकर भगी,
जान बचाने की लगी,
घर पहुँचकर
फिर नहीं टँगी,
और जल्दी बुत गई
अक्ल की लालटेन!

15-6-1993 (बाँदा)

आदमी काटता है समय

आदमी
काटता है समय,
काटती है जैसे उसे
हाथ में बँधी घड़ी।

न यथार्थ दरकता है,
न समाज बदलता है।

उसी तरह जीना है।
उसी तरह मरना है!!

27-7-1993 (बाँदा)

जहाँ भी

जहाँ भी–
जंगली जनतंत्र है,
वहाँ तो
आदमी
आदमी नहीं
जानवर है,
स्वार्थ के लिए
जीता और मरता है,
जिन्दगी को
बुरी तरह
बदनाम करता है,
नाकाम रहता
और नाकाम करता है।

30–9–1993 (बाँदा)

मैंने बागी घोड़ा देखा

मैंने
बागी घोड़ा देखा,
आज सबेरे।

उछल-कूद करता दहलाता
जोरदार हड़कम्प मचाता
गुस्से की बिजली चमकाता
लप-लप करती देह घुमाता
पट-पट अगली टाँग पटकता
खट-खट पिछली टाँग पटकता
कड़ी सड़क की
कड़ी देह को
कुपित कुचलता
मुरछल जैसी पूँछ घुमाता
बड़ी-बड़ी क्रोधी आँखों से
आग उगलता
ऊपर-नीचे के जबड़ों के
लम्बे पैने दाँत निपोरे,
व्यंग भाव से, ऐसे हँसता
अट्टहास करता हो जैसे!

पशु होकर भी नहीं चाहता पशुवत जीना,
मानववादी मुक्ति चाहता मानव से अब,
चकित चमत्कृत सब को करता।

मैंने बागी घोड़ा देखा
आज सबेरे
चौराहे पर!

3-4-1993 (बाँदा)

लँगड़ा कुत्ता

लँगड़ा कुत्ता
अपनी चाल से नहीं
आदमी की कुचाल से
मार खाये, चलता है।
आदमी की
अमानुषिक मनोवृत्ति का
दुष्परिणाम भोगता है,
कोसता है आदमी को, सभ्यता को।

पंगु हुआ
बार-बार भौंकता है,
जीने के लिए
जमीन पर
अभिशप्त घसिटता है!

4-4-1993 (बाँदा)

सब जो है

सब जो है
उनका नहीं है
जिनका
आज है।

सब जो है
उनका है
जिनका आज नहीं है।

विचार का उन्मुक्त भौंरा

विचार का
उन्मुक्त भौंरा
शहीद हो गया
फूल की शहादत में
शहद पाने के लिए।

जो न मिला–
न मिला!
न खिला
फूल न खिला!!

बरकरार हैं

बरकरार हैं
वही वही रास्ते
आने-जाने के।

कोई नहीं जानता
कौन
कहाँ पहुँचता है-
किसको मिलता है स्वर्ग,
किसको
मिलता है नर्क!

मैं बहुत खामोश हूँ

मैं
बहुत
खामोश हूँ
जलता दिया

रोशनी ही
रोशनी मैंने किया

रोशनी के सत्य को
अपना लिया!

जब आग और पानी मिले

जब
आग और पानी मिले,
आग बुझ गई,
भाप बन गया पानी।

समर्पित जीते हैं इसी सत्य को
दोनों–
आदमी और प्रकृति
शताब्दियों से
लगातार,
इस प्रकार!

लिफाफे में आई चिट्ठी

लिफाफे में
आई चिट्ठी
चिट्ठी नहीं–
आदमी आया है
दिल्ली से,
यहाँ तक
एक रुपये में
पहुँच पाया है,
वहाँ की खैरियत लाया है!

घड़ी में चलता समय

घड़ी में चलता समय
नहीं चलता मेरे पास
कि मैं चलूँ
साथ-साथ-
सामने का पहाड़ ठेलूँ,
कविता के लिए
अखाड़े में
डंड पेलूँ!

न उबाल न उछाल

न उबाल
न उछाल!
अशक्त मैं
न खोल सका
अशब्द का द्वार,
न बोल सका
कि पयस्वनी
बहे–

तरंगित रहे
अनकहे को कहे।

आते-जाते रहे गगन में

आते-जाते रहे गगन में
तुम अगस्त के अन्तिम क्षण तक
लेकिन उतरे नहीं वहाँ से नीचे पल भर
झरे न टपके एक बार भी,
चले गये
निर्मोही जैसे, सबसे मुँह को मोड़े।

बड़ी कृपा की–धन्यवाद है जो तुम आये
माह सितम्बर के आते ही
और लगे करने देहार्पण–
प्रेम-प्रवर्षण,
विरह विकल पृथ्वी से
पूरी तरह लिपटकर,

पहले दिन भी चौबीस घंटे
अगले दिन भी चौबीस घंटे
आत्म-समर्पण
प्रेम-प्रहर्षण हुआ तुम्हारा!
प्राकृत प्रेम
अमर्त्य हो गया
मर्त्य लोक में,
मेघ-मही के आत्ममिलन से!

2-9-1993 (बाँदा)

अगम अथाह

अगम
अथाह
महासागर में
तैर रहीं जो चटुल मछलियाँ
–सुन्दर और सजीव–
मानव मन की
कविताएँ हैं–
अर्थवंत अभिव्यक्ति की।

5–9–1993 (बाँदा)

भोगिला

बैलों में
एक बैल था, मेरे घर में–
'भोगिला'
काठी का बलीन,
पुष्ट
और प्रवीन।

चलता तो
अकाट्य तर्क की तरह
जमीन पर चलता

ज्ञान की तरह
गंतव्य पर
समय से
पहुँचता

न राह में रुकता,
न चलते-चलते थकता

याद आता है अब, बुढ़ापे में, रोज-ब-रोज,
बनाता है मुझे
कर्मठ और कर्तव्य-परायण

6-9-1993 (बाँदा)

चीन और हिन्दुस्तान

चीन
और
हिन्दुस्तान
अब आये
सन्निकट;
खोजने में लगे
समस्याओं का निदान
कि वैमनस्यता विनसे
सौहार्द्र विकसे।

फलीभूत हो
दोनों का
पारस्परिक संवाद
फिर न कभी हो
लौकिक–
अलौकिक उन्माद!

6–9–1993 (बाँदा)

भरोसा

आज की नहीं–
बात है इकहत्तर साल पूर्व की।
तब था वह
जो अब नहीं है संसार में
और मैं हूँ,
उसकी बात बताने को।
कोई और नहीं
घर का नौकर भरोसा था।

दुबला–पतला,
देह का लकड़िहा,
गजब का दमदार
उसी ने तो हम दोनों को
–मुझको और मेरे चाचा को–
कमासिन से
दाँदोघाट तक पहुँचाया था।

तब थी बरसात,
बरस चुका था पानी,
सड़क में हो गया था कीचड़–काँदो
असम्भव हो गया था
बैलगाड़ी का सड़क पर चलना।

संकट का समाधन भरोसा ने किया!
ले आया बँहगी,
बँहगी में लादे उसने आगे-पीछे,
हम दोनों के बकस-बिस्तर,
और चल पड़ा पैदल
कंधे से बँहगी लटकाये-लटकाये,
ग्यारह मील का सफर तय करने।

न चिन्तित हुआ,
न घबराया,
प्रत्येक कदम, उसने आत्म-विश्वास से उठाया,
गंतव्य तक हम दोनों को
सकुशल,
सामान के साथ पहुँचाया।

याद है मुझे
घर से चलते समय
भरोसा ने मुझे
प्यार से पुचकारा था
सनेह से थपथपाया था
अंग्रेजी पढ़ने के लिए उकसाया था
रायबरेली जाने को
उचित ठहराया था
तब मैं
फूलकर कुप्पा हो गया था!

वही तो है वह भरोसा,
कोई और नहीं-

जो आज याद आया है फिर से
और याद में, स्वयं सदेह
चला आया है,
गये की याद दिलाता
और मुसकाता
तब न जानता था धन्यवाद देना–
कृतज्ञता को व्यक्त करना।

अब,
आज,
अपने इस पोपले मुँह से मैंने
उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की
नत मस्तक
होकर
मैंने उसे
धन्यवाद दिया।

वह
ओझल हो गया,
और मैं
इसी बात को लेकर
कविता लिख सका,
भरोसा की दी कविता
भरोसा को समर्पित
कर सका।

7–9–1993 (बाँदा)

कलमदान

कलमदान–
कलमदान नहीं,
गाँव के अशिक्षित परिवार का
शिक्षित सदस्य है!
गाँव के लोग उसे मजाक-मजाक में
कलमदान कहकर पुकारते हैं

उर्दू का माहिर वह
अलिफ बे पे को खूब जानता है,
हिन्दी का ज्ञाता वह
क ख ग को–
पूर्णतया
पहचानता है;
और अंग्रेजी की ए बी सी डी का तो
अपने आप को
मास्टर मानता है
देखते ही, मैंने, उसे नमस्कार किया,
जवाब में, तत्काल, उसने–
एक साँस में एक साथ
बाअदब झुक कर, पहले, 'तकसीम' कहा–
और तत्क्षण

जमीन पर चित्त लेटकर
'दंडवत' कहा–
और उठते ही
हाथ मिलाते हुए 'गुड मोर्निंग' कहा,
मैं हतप्रभ हुआ–
और चल दिया वहाँ से,
विद्वान कलमदान को वहीं छोड़कर

9-9-1993 (बाँदा)

हिन्दी-दिवस

हिन्दी-दिवस है आज
चौदह सितम्बर को।

नहा धोकर
स्वच्छ होकर
कमरे में बैठकर
मातृभाषा हिन्दी के
जाने-माने
नये-पुरानों को
उनके योगदान के लिए
ससम्मान याद किया
मैंने उन्हें हार्दिक धन्यवाद दिया।

उनके कृतित्व को, मैंने,
लड़कपन से पढ़ा–
अपना व्यक्तित्व
और कृतित्व
उस पढ़े से दिन-दिन गढ़ा
आगे बढ़ा,
पहाड़ चढ़ा,
मानवीय बोध के लिए
मैं शब्दार्थ से मिला,
अव्यक्त को व्यक्त कर
अभिव्यक्ति से खिला।

14-9-1993 (बाँदा)

न बौद्धिक हुआ

न बौद्धिक हुआ
न आधुनिक।
न अकवि हुआ
न उत्तर
आधुनिक।

होते-होते
वही तो हुआ
जो आदमी होना है
न अहं में खोना है
न वहम में रोना है।

15-9-1993 (बाँदा)

मर कर भी

मर कर भी
मरा नहीं आदमी।
नेता की साँस साधे
जीता है,
भाषण को खाता
और पीता है!

17-9-1993 (बाँदा)

सोये आदमी

सोये आदमी
सपने देखते हैं
बाहर नहीं–
अपने भीतर
जो
अजान
अज्ञान की
स्वयं जन्मी
झलकियाँ होते हैं
मात्र
अमानवीय बोध की
विसंगतियाँ होते हैं।

19–9–1993 (बाँदा)

नहीं काटे कटता समय

नहीं काटे कटता समय–
दोपहर के बाद
शाम तक
निश्चेष्ट रहता हूँ मैं
खाट पर पड़े-पड़े, अकेला!

न चेतना भीतर से
बाहर लाती है कुछ–
न बाहर से भीतर लाती है कुछ!

न व्यस्त होता है मस्तिष्क,
न खोलता है
व्यक्तित्व के बोध
न तोड़ता है अस्तित्व के अवरोध
कि
नाद-मुखर हों शब्द,
खिल उठें
रुचिर रचना की पंखुरियाँ
महमह महक उठे
अंतरंग की सुगंध।

24-9-1993 (बाँदा)

आज सबेरे

आज सबेरे
आई-आई
खंजन चिड़िया
बहुत समय के बाद!

उसे देखकर
मैंने देखा–
खुली आँख हो
रसिक-प्रिया की जैसे;
पुलक-प्रमोदित मैं,
जिसमें सर्वांग समाया!

खंजन ने मुझको अपनाया
अक्षय जीवन मैंने पाया!

24-9-1993 (बाँदा)

कवि नहीं होता–नहीं होता बूढ़ा

कवि
नहीं होता–नहीं होता
बूढ़ा,
भले हो जाय चाहे
शरीर बूढ़ा;
लिखेगा तो लिखेगा ही
अनूठा
समय हो चाहे जितना ही
अजूबा!

श्रमशील
होती है
सघन कविताई,

व्यक्त करती है
अव्यक्त
सच्चाई!!

25–9–1993 (बाँदा)

चीखती चिचियाती

चीखती-चिचियाती
जान लेकर भगी तो
छोटकई गिलहरी
किन्तु पकड़ ही तो लिया
मुँह में दबोच ही तो लिया!
बड़कये बिलौटे ने,
नीम के पेड़ तक पहुँचने से पहले;
और ले भगा
उसे खाने
पेट की भूख मिटाने

अवाक् देखता रहा मैं-
बेबस और अशक्त!
न बचा सका मैं गिलहरी को-
न मार सका मैं बिलौटे को!

यही सब होता है प्रकृति में
यही सब होता है समाज में
बलीन लेता है अबलीन के प्रान,
जीवंत बने रहने का
करता है संधान।

25-9-1993 (बाँदा)

भगौता

साल में एक बार,
गाँव में पहले,
'भागवत' होती, कई दिनों तक,
'कमासिन दाई' वाले
मंदिर के चबूतरे पर,
गाँव भर सुनता-सराहता
और धन्य होता।

पास वाले घर में एक बढ़ई रहता
काम बढ़ईगीरी का करता
बढ़ई के बेटा हुआ
बाप ने मारे खुशी के
बेटे का नाम 'भागवत' रक्खा
जो प्रयुक्त होते-होते
'भागवत' का अपभ्रंश भगौता हुआ,

खेल-खेल में मेल हुआ
भगौता मेरा दोस्त हुआ
दोनों एक दूसरे के
प्रिय हुए

दिनों बाद मैं चला गया अँग्रेजी पढ़ने,
गाँव से बाहर, शिक्षा ग्रहण करने,

भगौता अकेला पड़ गया,
खेल-कूद छोड़कर,
काम ही काम करने में
पिल पड़ा।

न बसूला बचा-न आरी,
भगौता की हो गई
काम के औजारों से यारी,

कड़ी-से-कड़ी लकड़ी हो-
चाहे कठोर-से-कठोर काठ हो,
न बचा कोई उसके प्रहार से-
उसकी मार से।

एक-से-एक मजबूत खूँटे बनाये उसने
जो जमीन में गड़े तो गड़े रहे बरसों
न उखाड़े उखड़े बैलों के
न गाय-भैंसों के हिलाये हिले।

पहिये जो उसने बनाये
गाड़ियों में लगे तो लगे रहे-
चले तो चलते चले गये घूमते हुए,
बैलगाड़ियों को आगे से आगे ठेलते हुए
न रुके-न टूटे-न चरमराये
न बैलों की चाल से गड़बड़ाये,

उसकी बनाई चतुष्पाद चौकियाँ,
उसके बनाये कठोर काय बड़े-बड़े तखत,

सब-के-सब कायम मुकाम हैं,
घरों में
अब तक-आज तक

मैं तो वकील हुआ पढ़ लिखकर
कचहरी के काम में व्यस्त हुआ
जवान भी हुआ तो साधारण
डीलडौल का हुआ।

लेकिन
काठ काटते काटते-
कठोर-से-कठोर काम करते-करते
औजारों की यारी में तो
भगौता साधारण से
असाधारण हो गया
अपराजित पट्ठा हो गया,
बाप के मरणोपरान्त
परिवार का पालक
संरक्षक हो गया।

सोचता था-उसे देखकर समझता था
कि लम्बी उमर तक जियेगा,
मेरे मरने से पहले न मरेगा,
पर हुआ इसका उल्टा
मर गया भगौता कई साल पहले
और मैं
जिन्दा हूँ अब भी
करता हूँ उसे याद दिन प्रतिदिन!

आँखों में बसाये
देखता हूँ उसे
दिन-प्रतिदिन!

अच्छा हुआ
कि 'भागवत' न रही 'भागवत',
गाँव की 'भागवत' भगौता हो गई।
आदमी का
अलौकिक बोध
आदमी का लौकिक बोध हो गया गाँव में
अमानवीय बोध
मानवीय बोध हो गया
गाँव में,
आदमी हो गया कर्तव्यपरायण
कर्मनिष्ठ
गाँव में,
भगौता हो गया अधिष्ठित गाँव में!
आदमी हो गया प्रतिष्ठित गाँव में!!

26-9-1993 (बाँदा)

अपने लिए सब कुछ

अपने लिए सब कुछ
दूसरों को ठेंगा–
यही तो प्रमाण है

स्वार्थान्ध
आदमी, आदमी नहीं,
शैतान है!
उससे अच्छा श्वान है!!

4-10-1993 (बाँदा)

दौआ बेहना रुई धुनकता

दौआ बेहना रुई धुनकता,
'तुकुर-तुकुर-तायं-तायं' स्वर उठता।

घंटों बैठे-बैठे सुनता,
सुध बुध खोता,
धुनकी जाती रुई निरखता!
मुझको लगता
मैं भी दौआ बेहना होता-
उसी तरह से रुई धुनकता।

किन्तु, न ऐसा हो सकता था,
मुझको तो लिखना-पढ़ना था!
पढ़ने-लिखने के दौरान,
मैंने कविता पढ़ते-पढ़ते,
कविताई से लगन लगाई,
बिना बताये चुपके-चुपके,
रात रात भर जाग-जागकर,
कविता लिखता-
लेकिन उसको पकड़ न पाता,
मैं असफल हो जाता!

इस पर भी मैं
कविताई से चिपका रहता,
टूटी-फूटी जैसी बनती लिखता रहता,
अच्छी लिख पाऊँ मैं
इसके लिए ललकता,
मेरे भीतर बैठा होता दौआ,
मैं अपने को रुई मानता,
धुनता रहता-लिखता रहता;
अपनेपन को
अन्तर्मन को
विद्या-बुद्धि-विचार आदि को
भाषा को-शब्दावलियों को
तरह-तरह से जाँचा करता
और परखता,
लय-तुक-तान-तरंगों में ही बहता रहता!

ऐसा करते-करते, हरदम
पूरी तरह समर्पित रह के,
मैंने सुन्दर
शिल्प-सँवारी
अपनी चेतन कविता पाई!

दौआ तो
संसार छोड़कर,
जाने कब का चला गया!

मैं, दौआ का अनुगामी,
अब तक जी रहा हूँ!
अपने धुन का
अपने गुन का श्रमजीवी हूँ!
इसीलिए तो
प्राणवंत कविताएँ रचता
जग को देकर
अपना जीवन सार्थक करता।

7-10-1993 (बाँदा)

दस-ग्यारह साल का हुआ

दस-ग्यारह साल का हुआ
तो गाँव के बाहर
रायबरेली गया
अंग्रेजी पढ़ने।

बाबा के यहाँ रहता
उनके पड़ोसी रिश्तेदार के यहाँ-
कोठी में, आता-जाता और नहाता,
अयोध्या को वहीं कोठी में
काम में लगे देखता,
अच्छा खासा नौजवान था,
शरीर से पुष्ट पहलवान था,
दाल बनाता तो उसी में आटे की लोइयाँ
डाल देता,
और फिर नहा-धोकर,
चूल्हे से उतारकर
उसी को खाता,
कपड़े भी, खुद के धोये-सबुनाये, पहनता
दूसरों से अच्छा लगता।

उसकी जलाई लालटेन-
दूसरों की लालटेनों के मुकाबले में
परी जैसी दिखती-चमकती;

औरों की लालटेनें
दीन और दरिद्र प्रकाश करतीं,
रात भर न जगतीं,
बिना बुझाये बुझतीं
मुझे न अच्छी लगतीं।

अयोध्या की जलाई लालटेन
रात भर चमकती जलती,
बराबर जलती रहती
प्रकाश करती
अंधकार को
भगाये रहती।

वही लालटेन तो मैं
रायबरेली से लाकर
अपने दिमाग में
तब से अब तक बराबर रखता हूँ
वह मुझे जगाये रखती है।
मैं उसे जिलाये रखता हूँ–
वह मुझे।
अयोध्या की जलाई लालटेन
आज तक मुझे बराबर
पारदर्शी कल्पनाएँ देती है,
अब तक
सूक्ष्मदर्शी भावनाएँ देती है,
सत्यदर्शी कविताएँ देती है।

10–10–1993 (बाँदा)

देर तो हुई है

देर तो हुई है
पर समय
अब भी है।

शेष को अशेष करो,
सत्य को सदेह करो।

नेह करो।

चिन्तन की, चेतना की
वृष्टि करो।

मंगलमय सृष्टि करो!

12-10-1993 (बाँदा)

वह रहा

वह रहा,
रहकर गया
जो अब नहीं है।

याद आती है उसी की जो नहीं है।

ख्याल में
अब तक यहीं है।

ख्याल के बाहर नहीं है।[1]

12-10-1993 (बाँदा)

---

1. हम सबके प्रिय बाकर साहब की मृत्यु का समाचार सुनकर।

कविता तो है

कविता तो है
देश काल की काया
अन्तर्मन की माया
कवि ने जिसको
काव्य-कला की सृष्टि बनाया
मानव ने जिसको अपनाया।

कविता का
भाषिक भूगोल
अर्थवंत अभिव्यक्ति है,
नहीं
अन्य कोई भूगोल!

17-10-1993 (बाँदा)

अनायास आये भूकम्प से

अनायास आये भूकम्प से
मराठवाड़े की
सुस्थिर धरती
अस्थिर हुई
काँपी-डोली
गोद के गाँव
हजारों-हजार मकान
न रह सके खड़े
गिर गये
ढह गये।

सोये पड़े लोग
सोये-के-सोये रह गये,
न जगे
न जान पाये
अजान में हुआ सर्वनाश
दब गये
दबे-दबे मर गये
न बचा कोई,
रोने को
आँसू बहाने को
व्यथा की कथा सुनाने को
सहायता की पुकार लगाने को

1-10-1993 / 21-10-1993 (बाँदा)

समय का सूरज

समय का सूरज हँस रहा है–
जहाँ भी जो भी अंधकार है
उसे डँस रहा है
प्रकाश का
फन फैलाये
प्रोज्ज्वल बनाये।

23–10–1993 (बाँदा)

दिन हो या हो रात

दिन हो या हो रात,
मेघ-महल की
चंचल बिजली

बारम्बार
चमकती-छिपती,
चेतन नर्तन करते-करते-
अविनश्वर
छवि से
भव भरती।

कविता बनकर
जीवित रहती
जीवित रखती।

30-10-1993 (बाँदा)

गये की बात

गये की बात
गई हो गई
रह गई याद
जो बाँध लेती है मुझे
बाहों में

चन्द्रमुख चूमने देती है
अमरित पीने देती है
कुसुम-कारागार में
सकुशल जीने देती है।

1-11-1993 (बाँदा)

सही को गलत

सही को गलत
गलत को सही
करते चले जाते हैं लोग!

देश को विदेश
विदेश को देश
करते चले जाते हैं लोग!

संविधान को
वर्तमान से
वर्तमान को
संविधान से
खंडित करते चले जाते हैं लोग!

समय को
अदृश्य से
अदृश्य को समय से
नापते चले जाते हैं लोग!

नामी
अनाम अनजान
अनाम नामीगरामी
होते चले जाते हैं लोग!

4-11-1993 (बाँदा)

न मारो उसे

न मारो उसे और न मारो,
मारो तो अब
अपने को मारो,
अपना भूत
अपनी मार से उतारो
वही हारे
तुम न हारे
दूसरों को
प्यार से उबारो।

8-11-1993 (बाँदा)

बादल तो आये

बादल तो आये
पर गरजे नहीं
गरजे तो बरसे नहीं
बरसे तो पानी नहीं
पसीने से
तर-बतरकर
चले गये।

9-11-1993 (बाँदा)

विद्यालय को

विद्यालय को
न्यायिक सूक्ष्म विचार-बोध का
मंगल-पत्र मिला
शिक्षा संस्कृति का चारित्रिक
शोभित शतदल कंज खिला

रागानुराग रंजित, उत्प्रेरक,
गुन-गौरव का
भ्रमरावलि ने गान किया
विद्या-वाणी ने वरदानी
संज्ञा ने सम्मान किया

काल-कवच से बाहर आकर
स्मृतियों ने
नवालोक से मंडित होकर
पुनः प्रमोदित नृत्य किया,

जन-मन जीवन को
नवोल्लास से प्राणवान् कर
जीत लिया।[1]

12-2-1994 (बाँदा)

---

1. 12-2-94 को आर्य कन्या इन्टर कालेज के 75वें वर्ष के आयोजित समारोह में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश वर्मा ने आकर—सम्मिलित होकर अपना सार्थक सहयोग और आशीर्वाद दिया—मैंने यह रचना तभी लिखी और वहाँ पढ़ी।

केदारनाथ अग्रवाल
का
रचना-संसार